का ज्ञान इन्द्रियों को नहीं होता। अपितु इन्द्रियों से भिन्न किसी द्रव्य पदार्थ को होता है वह ज्ञाता तत्व आत्मा है।

(२) द्वितीय अनुमान यह है कि आत्मा इन्द्रियों से अलग है। चूंकि वह एक इन्द्रिय से ग्रहण किए पदार्थ का दूसरी अन्य इन्द्रिय से भी ग्रहण करता है। वस्तु का ग्रहण एक इन्द्रिय से होता है किन्तु विकार दूसरी इन्द्रिय से होता है जैसे नेत्रों के द्वारा इमली, निम्बू आदि पदार्थ देखते हैं पर जिह्वा से उसके स्वाद का पता चलता है इसीलिए मानना पड़ता है आत्मा इन्द्रिय से अलग है।[९]

(३) तृतीय अनुमान यह है कि जीव इन्द्रिय से पृथक है। चूंकि वह सभी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए हुए अर्थ का स्मरण करता है। जैसे अपनी इच्छा से रूप आदि एक-एक गुण के ज्ञाता ऐसे पांच पुरूषों से रूप आदि ज्ञान को जानने वाला पुरूष अलग है। उसी तरह पांचों इन्द्रियों से उपलब्ध अर्थ का स्मरण करने वाले, पांचों इन्द्रियों से अलग कोई तत्त्व होना चाहिए। वह तत्त्व आत्मा है।[१०]

वायुभूति- "आत्मा शरीर से अलग है। यह सिद्ध हो जाने पर भी वह शरीर के समान क्षणिक है। वह शरीर के साथ ही विनष्ट हो जाता है फिर उसको शरीर से अलग सिद्ध करने से लाभ भी क्या है?"

प्रभु महावीर-इस प्रकार की शंका करना ठीक नहीं है। पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्वजन्म का शरीर विनष्ट हो जाने पर भी क्षय नहीं मान सकते। जीव का क्षय मानने पर पूर्वभव का स्मरण नहीं कहते। जैसे बाल अवस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का बाल्यकाल में सर्वथा नाश नहीं हो जाता, चूंकि वह बाल्यावस्था का स्मरण करती हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इस प्रकार जीव भी पुनर्जन्म का स्मरण करता है यह सिद्ध है।

जैसे कोई व्यक्ति विदेश यात्रा के लिए गया है वह अपने देश की बात का स्मरण करता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले भव का सर्वथा नाश नहीं मान सकते।[११]

चैतन्य भूतों का धर्म है और भूत रूप शरीर व चैतन्य रूप आत्मा का अभिमान है।[१२]

इस संशय का निवारण करते हुए भगवान महावीर ने कहा- तुम्हारा यह संवाद उचित नहीं है। चूंकि चैतन्य केवल भूतों के समुदाय से पैदा नहीं हो सकता। वह स्वतन्त्र रूप से सत् है, क्योंकि प्रत्येक भूत में उसकी सत्ता का अभाव है। जिसका प्रत्येक अवयव में अभाव हो, वह समुदाय से भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे रेत के किसी कण में यदि तैल नहीं है तो रेत समुदाय से तेल नहीं निकल सकता। तिल समुदाय से तेल निकलता है। चूंकि प्रत्येक तिल में तेल की सत्ता है। तुम्हारा यह कथन भी अयुक्त (युक्तिरहित) है कि मदिरा के प्रत्येक द्रव्य में मद अविद्यमान है। सही बात यह है कि मदिरा के प्रत्येक अंग में कम या ज्यादा मद विद्यमान है इसलिए वह समुदाय से उत्पन्न होती है।[१३]

'मदिरा के अंग के समान प्रत्येक भूत में चैतन्य की मात्रा विद्यमान है इसलिए वह समुदाय से भी उत्पन्न हो जाता है।' यदि ऐसा मान लें तो क्या आपित्त है? किन्तु आपका यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे मदिरा के हर एक अंग-धातकीपुष्प, गुड़, द्राक्षा, गन्ने का रस आदि में मद शक्ति दिखाई देती है, उसी प्रकार प्रत्येक भूत में चैतन्य का दर्शन नहीं होता इसलिए केवल यह नहीं कहा जा सकता कि भूत समुदाय में चैतन्य उत्पन्न होता है।[१४]

मदिरा के प्रत्येक अंग में भी यदि शक्ति न मानें तो क्या आपत्ति है? यदि भूतों में चैतन्य के समान मद्य के प्रत्येक अंग में मद शक्ति हो यह नियम कदापि नहीं बन सकता कि मद्य के धातकीपुष्प आदि तो कारण हैं और दूसरे पदार्थ नहीं। ऐसी अवस्था में राख, पत्थर आदि कोई भी वस्तु मद का कारण बन

जाएगा और किसी भी समुदाय से मदिरा उत्पन्न हो जाएगी, किन्तु व्यवहार में भी हम देखते हैं कि ऐसा कभी नहीं होता। अतः मदिरा के हर अंग भूत पदार्थ में मद शक्ति का अस्तित्व मानना चाहिए।"

भगवान महावीर ने क्षणिकवाद का विरोध करते हुए कहा- "वायुभूति! क्षणिकवाद भी अनेक दोषों से भरा हुआ है क्योंकि ज्ञान संतति का जो सामान्य रूप है वह नित्य है इसलिए उसका भी व्यवच्छेद नहीं होता। उसे ही आत्मा कहते हैं।" प्रभु महावीर ने आत्मा के विषय को आगे स्पष्ट करते हुए कहा- "वायुभूति! आत्मा शरीर से अलग है तो वह शरीर में प्रवेश करते समय, वहां निकलते समय क्यों दिखाई नहीं देती?"

इसका उत्तर इतना है- "आत्मा स्वभाव से अमूर्त्त है और उसके साथ जो कार्मण शरीर है वह परमाणु के समान सूक्ष्म है इसलिए हमारे शरीर में प्रवेश करते समय या बाहर निकलते समय दिखलाई नहीं देती।"

वायुभूति - "अच्छा, यदि यह मान भी लें कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती तो भी भूतों के सिवाय आत्मा के अस्तित्व का क्या प्रमाण है?"

प्रभु महावीर- "वायुभूति! ज्ञानी को प्रमाण की जरूरत नहीं होती। वह इसे हस्ताकमलवत् साक्षात् देखते हैं। यह कर्म नेत्र वाले जीवों के लिए पहेली है पर वह इसे अनुमान से जान सकते हैं।

दिखाई देने वाले जीवों की प्रवृत्तियों को देको। सब अपने अनुकूल वंदनीय की ओर प्रवृत्त और प्रतिकूल वंदनीय से निवृत्त होते हैं। सब अनिष्ट से बचना चाहते हैं। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि यह चाहने वाली शक्ति, जो अदृश्य है, क्या है? जो भले-बुरे का विचार करती है। अवश्य ही उस नियामक शक्ति का उद्‌गम स्थल शरीर से भिन्न है और वही क्रियावादियों की आत्मा है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैंने खाया, मैंने अमुक कार्य किया इत्यादि वाक्य "मैं" शब्द से तो अपना सूचन होता है वह वास्तव में शरीर नहीं है। हां यह स्वभाव शरीराश्रित आत्मा है। मृत शरीर में इस प्रकार की कोई भी चेष्टा नहीं होती है। मृत शरीर पर कितनी कीमती औषधियों के प्रयोग किए जाएं, क्या वह जिंदा होगा? क्या मृत शरीर का घाव ठीक होगा? क्या वह बात करेगा? जिस शक्ति से जीवन शरीर का योग ठीक होता है, इन्द्रियां कार्यरत हैं वह शक्ति आत्मा है और इन्द्रियों से अलग है।

प्रभु महावीर ने पुनः वायुभूति से पूछा- "वायुभूति! इस संसार की विचित्रता की ओर देखो। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनवान है, कोई निर्धन है, कोई स्वामी है, कोई सेवक है। इन विविधताओं का कारण तुम क्या मानते हो?"

वायुभूति- "भंते! मैं तो इनका कारण स्वभाव को मानता हूं।"

प्रभु महावीर- "किसका स्वभाव?"

वायुभूति- "पदार्थों का।"

प्रभु महावीर- "यदि तुम्हारी मान्यतानुसार संसार के भूतों के सिवा कोई पदार्थ नहीं है, तब तो इसका कारण तर्कसंगत नहीं है।

'भूत' जड़ पदार्थ है। इन जड़ों में ऐसी कौन सी नियामक शक्ति है, जो संसार की विभिन्नताओं को प्रकट करे। भले ही आग में जलने-जलाने की शक्ति है पर वह स्वयं नहीं जल सकती। इस तरह भूतों में भले ही सब कुछ करने की शक्ति हो, पर वह स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इनका कोई नियोजक चेतन होगा, तभी ये संसार की विचित्रता का कारण हो सकेंगे। अतः भूतों में विलक्षण चेतन मानना पड़ेगा।

आत्मा का अस्तित्व मान लेने पर भी संसार की विविधता सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक कि चेतन और जड़ के बीच में कोई विशिष्ट संबंध न माना जाए। क्योंकि जड़ से निर्लेप रहता हुआ चेतन जड़ पदार्थ का कोई नियमन अथवा उपयोग नहीं कर सकता। मिट्टी का स्पर्श न करने वाला कुम्हार मिट्टी के बर्तन नहीं बना सकता।''

वायुभूति- ''तब क्या कुम्हार की तरह चेतन भी जड़ पदार्थों में इस संसार की रचना करता है?''

वायुभूति ने एक नया प्रश्न पुनः खड़ा कर दिया। प्रभु महावीर ने बड़ी सरलता से इसका समाधान किया।

प्रभु महावीर- ''मेरा अभिप्राय यह नहीं है जैसा तुम समझ रहे हो। कुम्हार की तरह कोई चेतन शक्ति संसार की रचना नहीं करती। मेरे कहने का भाव यह है-

इस जगत में चेतन और जड़ दो शक्तियां काम करती हैं। इन दो शक्तियों के बीच वह संबंध है, जो विजातीय दो पदार्थों के बीच हो सकता है। चेतन, जिसे हम आत्मा कहते हैं और जड़, जिसे हम कर्म कहते हैं। अनादिकाल से दूध और घृत की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। दूध को देखते ही घृत का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार सचेष्ट शरीर को देखते ही आत्मा का अनुमान करते हैं। चेतन में लिप्त कर्माणुओं से संसार में यह विचित्रता उत्पन्न होती है। जो चेतन शुभ कर्मों में लिप्त होता है वह संसार में अच्छी स्थिति पाता है। जो अशुभ कर्म अणुओं में लिप्त होता है वह बुरी स्थिति पाता है।

इस प्रकार संसार में देखी जाने वाली विभिन्नताओं का कारण संसारी जीवों और उनके शुभ-अशुभ कर्म हैं। केवल भूतों का स्वभाव नहीं।

वायुभूति पर चार्वाक का भी कुछ असर था। इस लम्बी धर्मचर्चा से वायुभूति का संशय दूर हो गया। उन्होंने भी अपने दोनों भ्राताओं का अनुकरण करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की। उनके ५०० शिष्यों ने भी साधु जीवन ग्रहण किया। उधर पावा की यज्ञशाला में यज्ञ रुक गया। सभी उन तीन वेद-विद्वान, ब्राह्मणों की चिंता करने लगे।

इन्द्रभूति, अग्निभूति व वायुभूति तीनों पंडित अपने शिष्यों के परिवार सहित प्रभु महावीर के शिष्य बन चुके थे। यज्ञशाला के हर सदस्य को अब देवताओं के समवसरण में जाने का रहस्य समझ आ रहा था। उन्हें पता चल चुका था कि उस वर्द्धमान को अवश्य ही सर्वज्ञता प्राप्त हो गई है इसलिए वह हमारे विद्वानों से शास्त्रार्थ करने में सक्षम है।

बाकी चार विद्वानों ने भी सोचा- 'चलो! हम भी चलें। उस व्यक्ति को देखें, परखें। अगर वह योग्य होगा, तो हमारे मन की बातें बता देगा। हमारे अंदर वर्षों से पल रहे संशय का निवारण हो जाएगा।''

आर्य व्यक्त की शंका और प्रव्रज्या

वायुभूति के दीक्षित होते ही आर्य व्यक्त अपने शिष्यों सहित प्रभु महावीर के समवसरण में उपस्थित हुए। प्रभु महावीर ने उनको संबोधित करते हुए कहा- ''व्यक्त! तुम्हारे मन में संशय है कि भूत है या नहीं। तुम्हें ब्रह्मा के सिवाय सारे पदार्थों की वास्तविकता पर संशय है?

व्यक्त! तुम्हारे मन में यह धारणा है कि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले ये सभी भूत स्वप्न के समान हैं और जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थ माया के समान हैं। इस तरह सम्पूर्ण संसार पदार्थ में शून्य-सा है।''

प्रभु महावीर से अपनी संशय भरी बातें सुनकर आर्य व्यक्त ने स्वीकृति दी। फिर खुलकर प्रभु

महावीर की बातें व अपनी संशय का समाधान पाने लगे। प्रभु महावीर ने आगे कहा- "महानुभाव! स्वप्नोपम वै इत्यादि वेद वाक्य को तूने ठीक रूप से नहीं समझा। सब कुछ स्वभावतुल्य होने का अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ नहीं।

संशय की उत्पत्ति बिना ज्ञेय के संभव नहीं। इसलिए ज्ञेय है तो संशय उत्पन्न किस प्रकार होगा? सब कुछ शून्य होने पर भी संशय रहता है, यह कहना उचित नहीं। जो स्वप्न में संदेह होता है वह भी पुर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से ही होता है। इसलिए सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव हो तो स्वप्न में संशय न हो।

स्वप्न के कारण ये हैं- (१) अनुभूत अर्थ-स्त्रानादि, (२) दृष्ट अर्थ-हाथी, घोड़े, (३) चिन्तित अर्थ प्रियतम आदि, (४) श्रुत अर्थ- स्वर्ग, नरक आदि, (५) प्रकृति विकार-वात, पित्त आदि, (६) अनुकूल-प्रतिकूल वेदना, (७) सजल-प्रदेश, (८) पुण्य और पाप। इसलिए स्वप्न भी भावरूप हैं। चूंकि घट विज्ञान आदि के समान वह विज्ञान रूप है या स्वप्न स्वभाव रूप है। क्योंकि वह अपने कारणों से उत्पन्न होता है। जैसे घट आदि अपने कारणों से उत्पन्न होता है।

इस तरह हमें पृथ्वी, जल, अग्नि आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भूतों पर संदेह नहीं करना चाहिए। वायु, आकाश भी अवश्य है। स्पर्श आदि गुणों का कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। चूंकि वह गुण है। जैसे सब गुण का गुणी घट है। स्पर्श आदि गुणों का जो गुणी है वह वायु है। इन सबका आधार भी कोई न कोई जरूर होना चाहिए। चूंकि ४ तत्त्व मूर्त्त हैं। जो मूर्त्त होता है उसका कोई आकार होता है। जैसे पानी का आधार घट होता है, पृथ्वी का आधार आकाश है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सचेतन जीव हैं। उनके जीव लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। आकाश अमूर्त्त है क्योंकि यह जीवों का आधार है, यह जीव तत्त्व नहीं है। भूत पदार्थों में जीवन है। इनका अपना भोजन है।

पृथ्वी सचेतन है। चूंकि उसमें जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षत-संरोहण, आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा आदि जीव के लक्षण पाए जाते हैं। लाजवंती क्षुद्र जीव की तरह स्पर्श से संकुचित हो जाती है।

लता अपना आश्रय प्राप्त करने की दृष्टि से मानव के समान वृक्ष की ओर बढ़ती है। शमी आदि में निद्रा, प्रबोध, संकोच के लक्षण पाए जाते हैं। बबूल शब्द का, अशोक रूप का, कुरूनक गंध का, विरहंक रस का, चम्पक स्पर्श का उपभोग करते हुए दिखाई देते हैं।

जल भी सचेतन है। पृथ्वी का उत्खनन करने से स्वाभाविक रूप से जल निकलता है, वह मेढ़क के समान है। चूंकि मेढ़क भी ऐसे ही निकलते हैं और मत्स्य के समान स्वाभाविक रूप से आकास से गिरने के कारण जल को सचेतन मानना चाहिए। गाय बिना किसी प्रेरणा से अनियमित रूप से तिर्यक् गमन करती है, वैसे ही वायु भी है। इसलिए वह सजीव है। अग्नि सजीव है। उसे मनुष्य में आहार आदि से वृद्धि और विकार दिखाई देता है। वैसे ही अग्नि में भी काष्ठ आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते हैं।[१६]

सो पांच भूत अचेतन नहीं हैं। इसलिए क्षणिकवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि संसार में कुछ भी इस सिद्धान्त में नहीं आता। सांसारिक जीवों का नियम है कि क्षणिक सुखों को, क्षणिक मानकर इसमें न फंसे आत्महित की चिंता करें।

इसके बाद प्रभु महावीर ने आर्य व्यक्त को जड़-चेतन का स्वरूप समझाया। आर्य व्यक्त भी अपने शिष्यों सहित प्रभु महावीर की शरण ग्रहण कर चुके थे। अब आए जैन इतिहास व शास्त्रों के मुख्य संदेशवाहक आर्य सुधर्मा।

आर्य सुधर्मा का नाम ४५ आगमों में शुरू में ही उपलब्ध हो जाता है। इसका मुख्य कारण है कि वह भगवान महावीर के दीर्घकाल तक शिष्य रहे। उन्होंने अपने शिष्य अंतिम केवली आर्य जम्बू को वही सुनाया, जो उन्होंने अपने प्रभु महावीर के श्रीमुख से सुना था। यही गुरु-शिष्य संवाद श्वेताम्बर जैन आगम है। आप दीर्घायु थे। लम्बे समय तक प्रभु महावीर को बहुत निकट से देखा था, इसी कारण अपने 'वीरत्थुई' की स्वतन्त्र रचना की। आप संसार के पहले कवि थे। आपकी यह रचना सूत्रकृतांग में है। जर्मन विदुषी डा. मेटे के अनुसार यह संसार की पहली छन्द, अलंकार व कविता के सभी गुणों से संपूर्ण रचना है। सुधर्मा जैसा विद्वान प्रभु महावीर के आगे कैसे समर्पित हुआ। सुधर्मा भी सोमिलाचार्य की यज्ञशाला में अपने शिष्यों के साथ यज्ञ में संलग्न थे।

आर्य सुधर्मा की शंका व प्रव्रज्या

वह भी प्रभु महावीर के समक्ष अपने शिष्य-परिवार सहित आए। प्रभु महावीर ने सुधर्मा को देखते ही कहा- "आर्य सुधर्मा! क्या तुम मानते हो कि सब प्राणी मरकर अपनी ही योनि में पैदा होता हैं। जो इस भव में है व परभव में भी ऐसा रहेगा।"

आर्य सुधर्मा प्रभु महावीर की सर्वज्ञता की बात सुन चुके थे। अब तो वह प्रभु महावीर की परीक्षा हेतु नहीं, संशय मिटाने हेतु आए थे। अब श्रद्धा आ चुकी थी। तर्क-वितर्क समवसरण में आते ही समाप्त हो चुके थे। बड़े श्रद्धाभाव से आर्य सुधर्मा ने कहा- हा आर्य, वेद-वाक्य भी मेरी बात का समर्थन करते हैं-

"पुरूषो वै पुरूषत्वमश्नुतै पशवः पशुत्वम्।"

अर्थात् पुरूष पुरूषत्व को पाता है पशु पशुयोनि पाता है।

प्रभु महावीर- "आर्य! तुम एक वाक्य में ही उलझ गए हो। इसके विपरीत भी श्रुति वाक्य उपलब्ध होता है।

सुधर्मा- हां प्रभु! मैंने वह विपरीत वाक्य भी पढ़ा है-"श्रृगालो वै एष जायते य सपुरीषो दह्यते।' इस वाक्य में अटल नियम है कि कार्य हमेशा कारण अनुरूप होता है। गेहूं से गेहूं की ही उत्पत्ति होती है, जौ की नहीं। इस तरह मनुष्य आदि प्राणी मरकर पुनः मनुष्य ही बनते हैं किसी अन्य योनि में नहीं पैदा होते।"

आर्य सुधर्मा के तर्क को प्रभु महावीर ने काटते हुए समाधान किया- "महानुभाव सुधर्मा! कार्य कारण के समान ही होता है इसलिए गेहूं से गेहूं और जौ से जौ की उत्पत्ति होती है, पर-भव की नहीं। यह बात सत्य है, पर इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि उसी कारण रूप गेहूं जीव ने उससे उत्पन्न होने वाले गेहूं के दानों में जन्म लिया है। कारण और कार्य रूप गेहूं के दानों में केवल शारीरिक कार्य-कारण भाव होता है, आत्मिक नहीं।

इसी प्रकार मनुष्य तथा तिर्यंच आदि में भी शारीरिक कार्य- कारण भाव होता है। मनुष्य के मनुष्य देहधारी संतान होती है, पशु के पशु देहधारी। यदि यह नियम न होता, तो मनुष्य से पशु उत्पन्न हो जाता और पशु मनुष्यों को जन्म देते। सो इसका कारण शरीर है आत्मा नहीं।

आर्य सुधर्मा! मेरी बात ध्यान से सुनो। हर जीव-जंतु का जीव (आत्मा) जुदा है और शरीर जुदा है। पूर्व शरीर उत्तर शरीर का कारण तो हो सकता है पर उत्तर भव का नहीं।

भव की प्राप्ति पूर्व कृत्य शुभ-अशुभ कर्मों का समूह है। जो जीव भले-बुरे कर्म करता है उसी प्रकार

से भले-बुरे कर्मों से अपनी आत्मा को बांध लेता है जिसे मैं कर्मबंध कहता हूं। उसी कर्म के हिसाब से अच्छी-बुरी गति बांधता है। उसका पूर्वभव का शरीर इस प्रणाली पर कोई असर नहीं डालता।

कार्य-कारण के समान ही होता है, यह कोई एकान्त नियम नहीं है। श्रृंग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती है। उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो फिर उसी में से एक विशेष प्रकार की घास उत्पन्न होती है। गाय, भेड़, बकरी के केशों से ऊन उत्पन्न होती है। इसी तरह विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद में है। इसलिए यह मानना चाहिए कि कार्य-कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है।[१७]

इस भव का मनुष्य मन, वचन द्वारा अशुभ प्रवृत्तियों से अशुभ कर्म बांध लेता है वह मरकर नारकी व पशु बनता है। इस तरह से इस भव का पशु अशुभ कर्मों से फिर तिर्यंच और नारक भी हो सकता है। वह तिर्यंच पशु शुभ कर्मों द्वारा मनुष्य और देव तक हो सकता है। मेरी बातों का सार यह है कि शुभ कर्म जीव का शुभ गति देने वाले हैं। अशुभ कर्म अशुभ गति देने वाले हैं।

सुधर्मा- "आर्य! अगर कर्म के अभाव से यदि भव मान लें तो क्या आपत्ति है?"

प्रभु महावीर- "महानुभाव! इस प्रकार की स्थिति में भव का नाश भी निष्कारण मानना होगा और मोक्ष के लिए तपस्या आदि तप-जप, अनुष्ठान बेकार सिद्ध होंगे। इस कारण तुम्हारा सिद्धांत अपने आप में ठीक नहीं है। इस तरह कर्म के अभाव से अनेक दोष उत्पन्न हैं।"

सुधर्मा- "आर्य! कर्म के अभाव में स्वभाव से ही परभाव मान लें तो क्या दोष है?"

प्रभु महावीर- "महानुभाव! स्वभाव क्या है? क्या वह कोई वस्तु है? या निष्कारणता है? या वस्तु धर्म है?

वस्तु मानने पर उसकी उपलब्धि होनी चाहिए। पर आकाश कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नहीं होती, वह वस्तु नहीं है। यदि अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव का अस्तित्व माना जाए तो अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व मानने में क्या आपत्ति है?

दूसरी बात- स्वभाव की विसदृशता आदि की सिद्धि के लिए हेतु प्राप्त नहीं होता, जिससे जगत् वैचित्र्य सिद्ध हो सके। स्वभाव की निष्कारणता में भी बहुत से दोषों की संभावना है। वस्तु धर्म में भी स्वभाव नहीं माना जा सकता। चूंकि उसमें भी वैसे दृश्य के लिए किसी प्रकार का स्थान नहीं रहता। स्वभाव को पुद्गल रूप मानकर वैसे दृश्य की सिद्धि की जाए तो वह कर्म रूप में ही सिद्ध होगा।

इस प्रकार सुधर्मा! तुम्हारी सभी मान्यताएं शंकाग्रस्त हैं। तुम्हारा यह मानना इसी बात का प्रतीक है क्योंकि श्रुति में परस्पर वाक्य तुम्हें मिले। पर वास्तविकता में इन श्रुति वाक्यों का कुछ लेना-देना नहीं है।

आर्य सुधर्मा भी विद्यार्थी-परिवार सहित प्रभु महावीर के शिष्य बन गए पर अभी तो पहले दिन का पहला उपदेश था। चर्चाएं चल रही थीं। इसके बाद आर्य मंडिक यज्ञशाला से सीधे प्रभु महावीर के चरणों में पहुंचे। उनका भी शिष्य परिवार साथ था।

मंडिक स्वामी की शंका व प्रव्रज्या

सुधर्मा के पश्चात् ही मंडिक स्वामी प्रभु महावीर के सामने आ गए। उन्हें देखते ही महावीर बोले- "आर्य मंडिक! क्या तुम्हें आत्मा के बंध-मोक्ष के विषय में शंका है?"

मंडिक- "हे आर्य! आप सत्य कहते हो। मेरी ऐसी मान्यता है कि आत्मा एक स्वच्छ-सा पदार्थ है। इसका कर्मबंध और नए-नए रूपों में जन्म लेकर भटकना मेरे दिमाग में नहीं बैठता। मेरी बुद्धि इस सिद्धांत को मानने को तैयार नहीं है। फिर शास्त्र में भी आत्मा को त्रिगुणातीत, अबद्ध और विभु बताया गया है।

श्रुति वाक्य है- "स एष विगुणे विमूर्त वध्यते, संसक्ति व न मुच्यते मोचयति वा, नवा एष बाह्याभ्यन्तर न वेद।" अब आप ही समझाएं कि जो अवगुण (सत्व, रज, तम) बाह्य तथा आभ्यन्तर (शारीरिक व मानसिक) सुख-दुःख के प्रभावों से परे है उसे कर्मबद्ध होगा? और जिसका बन्धन है उसका छूटने की बात बेकार है। इस प्रकार जो आबद्ध है, वह भव-भ्रमण कैसे करेगा?

प्रभु महावीर- "इस श्रुति वाक्य में आत्म-स्वरूप का जो वर्णन है, वह कर्म समाप्त करके गई सिद्ध आत्मा का है। सांसारिक आत्माओं का नहीं है।"

मंडिक स्वामी ने पुनः प्रश्न किया- "सिद्ध और संसारी आत्माओं में क्या भिन्नता है?"

प्रभु महावीर- "यूं तो आत्म स्वरूप से सभी आत्माएं एक सी हैं, परन्तु उपाधि भेद से भिन्नता मानी गई है। जो आत्माएं सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र के माध्यम से समस्त कर्म का नाश कर देती हैं, जिनका जन्म मरण समाप्त हो गया है, जो त्रिकाल पूज्य हैं, निराकार हैं, स्वयंबुद्ध, अविनाशी हैं, वह सिद्धात्माएं हैं।

जो कर्मबंधन में जकड़ी होने के कारण जन्म-मरण करती हैं। बुरे या अच्छे कर्मों के अनुसार जिन्हें बुरी या अच्छी योनि मिलती है वह संसारी आत्माएं हैं। उक्त वेद वाक्य में जो विभू आत्मा का निरूपण किया गया है वह कर्म-मुक्त सिद्धात्माओं पर ही लागू होता है क्यों कि उन्हीं मुक्त आत्माओं में यह विशेषताएं पाई जाती हैं।"

मंडिक बहुत अच्छा दार्शनिक व शास्त्रार्थ करने में कुशल थे। उन्होंने प्रभु महावीर से पुनः प्रश्न किया- "सिद्ध और संसारी दो तरह की आत्माओं की कल्पना करने की क्या जरूरत है? हमें सभी आत्माओं को सिद्ध स्वरूपी मानने में क्या दोष है?"

प्रभु महावीर- "हे आर्य! इस तरह मानने से संसारी आत्माओं को कर्म द्वारा प्राप्त सुख-दुःख के अनुभव की जो प्राप्ति होती है वह बेकार सिद्ध हो जाएगी। हम कहते हैं-"मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं।" इन व्यवहार वाक्यों का आधार कर्मफल को प्रकट करता है। यदि हम सभी जीवों को कर्मरहित मान लेंगे तो इस सुख-दुःख का कारण क्यों माना जाएगा?

मंडिक ने तर्क उपस्थित किया- "आत्मा तो बुद्धि और शरीर से स्वतंत्र है। आत्मा को इसका ज्ञान नहीं है। आत्मा इसी प्रभाव के कारण बुद्धि पर होने वाले सुख-दुःख से उन्हें प्रकट करता है। पर परमार्थ दृष्टि से यह असर आत्मा में नहीं, अन्तःकरण में होता है।"

प्रभु महावीर- "तब तो आत्मा शरीर और अन्तःकरण के साथ ऐसा गूढ़ संबंध होना चाहिए, जिससे वह उन में अपनापन मान लेने की भूल करता है।"

मंडिक- "हां भंते! ऐसा ही है। दूध में रहा हुआ घी दूध से अलग होते हुए भी भिन्न नहीं दिखाई देता। ऐसे ही आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी घनिष्ट सम्बन्ध के कारण वह अपने को भिन्न नहीं समझती। इसी अभेद ज्ञान के वश अपने में बुद्धि द्वारा पड़ते हुए शारीरिक सुख-दुःख के प्रतिबिंबों को वह अपना सुख-दुःख मानकर अपने को सुखी-दुःखी मान लेता है।

स्फटिक स्वयं उज्ज्वल है फिर भी सन्निधि के कारण लाल, पीला, काला अनेक रूपों में दिखाई देता है। यही दशा आत्मा की है। यह शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल होते हुए भी उपाधि वश वह अनेक रूपों में दिखाई देती है।''

प्रभु महावीर-''आत्मा का शरीर या अन्तःकरण के साथ जो घनिष्ट संबंध है उसी को हम बन्ध कहते हैं। आत्मा अपने स्वरूप से उज्जवल है, यह कथन बिल्कुल सत्य है पर जब तक यह कर्म-सम्पर्क है, शरीरधारी है तब तक कर्मबंध के कारण मलिन है। इस मलिन प्रकृति के कारण नए-नए कर्मों को बांधती रहती है और उन कर्मों के अनुसार उच्च-नीच गतियों में भटकती है। यही संसार-भ्रमण है। सुख-दुःख की उत्पत्ति अन्तःकरण में होती है और अन्तकरण अनुभव करता है। यह मान्यता भी तर्कसंगत नहीं है। ज्ञान चेतन का धर्म है जड़ का नहीं। अन्तःकरण जड़ पदार्थ है। उसे सुख-दुःख का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। अनुभव का होना तो निर्विवाद है। अतः सुख का अनुभव कर्म और वचन द्वारा प्रकट अन्तःकरण से भिन्न है। इसी तत्व को आत्मा कहते हैं।

जब तक आत्मा को संसार से मुक्त होने का साधन प्राप्त नहीं होता, वह चार गतिरूपी संसार के कर्मवश भटकता रहता है। शरीर और कर्म की संतति अनादि है। दोनों में कार्य-कारण भाव है जैसे बीज और अंकुर। जैसे बीज में अंकुर होता है वैसे अंकुर से बीज पैदा होता आ रहा है। यह अनादिकाल का क्रम है।

जीव कर्म के द्वारा शरीर पैदा करता है। इसलिए वह शरीर का कर्त्ता है और शरीर द्वारा कर्म उत्पन्न होता है इसलिए वह कर्म का कर्त्ता है। शरीर व कर्म की संतति अनादि है इसलिए जीव और कर्म की त्रिसंतति को भी अनादि मानना चाहिए। इस तरह जीव और कर्म का बंध अनादि है।

आपका यह मानना गलत है कि जो अनादि होता है, वह अनंत भी होता है। बीज और अंकुर की संतति अनादि होने पर भी आदि है। इस तरह अनादि कर्म सन्तति का भी अन्त हो सकता है। बीज और अंकुर में से यदि किसी का भी अपना कार्य उत्पन्न करने से पहले नाश हो जाए तो उसकी सन्तान का भी अंत हो जाता है। यह नियम मुर्गी व अंडे के लिए भी है।

सोने और मिट्टी का संयोग अनादि संतति कहा है, तथापि उपाय विशेष से नष्ट हो जाता है। ठीक जीव और कर्म का अनादि संयोग भी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र द्वारा नष्ट हो जाता है। जब शरीर व कर्म का जीव (आत्मा) नाश कर देता है, तो सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। कर्मों के कारण ही जन्म-मरण, उच्च-नीच आदि विभिन्नताएं दिखाई देती हैं। क्योंकि स्वयं कर्म करता है, स्वयं भोगता है, स्वयं ही धर्म-आराधना द्वारा इस कैद से मुक्ति पा लेता है। कर्मबन्ध का कारण कषाय है। राग-द्वेष कर्मबंध का बीज है। यह जड़ होते हुए भी चेतन को उसी प्रकार फल देता है जैसे शराब शराबखाने में पड़ी कुछ नहीं कहती पर शरीर के अंदर जाकर विभिन्न असर दिखाती है। ऐसे कर्म जड़ पदार्थ चेतन को कर्मफल देने में सक्षम हैं। कर्म के बंधन सघन हैं। इन्हें काटना बहुत कठिन है। आत्मा जन्मांतर से इन्हीं बंधनों से बंधी चली आ रही है। बंध का स्वरूप आपको बता चुका हूं। बंधन से छूटते ही आत्मा की मंजिल मोक्ष है, जो शाश्वत सुख का स्थान है।

इस प्रकार मंडिकपुत्र भी बंध व मोक्ष संबंधी प्रश्नों का समाधान पाकर शिष्य परिवार के साथ दीक्षित हो गए। मंडिकपुत्र की दीक्षा के पश्चात् मौर्यपुत्र अपने शिष्य परिवार सहित प्रभु महावीर के समक्ष आए।

मौर्यपुत्र के समाधान व प्रव्रज्या

मौर्यपुत्र के समाधान व प्रव्रज्या प्रभु महावीर ने उन्हें देखते ही पूछा- "हे आर्य! तुम्हें देवों के अस्तित्व पर शंका है?"

मौर्य- "हां देवानुप्रिय! मुझे यही शंका है 'देव' नाम के मनुष्यों को हम देव कह सकते हैं क्योंकि जो सम्पन्न है, सुखी हैं वे सब देव ही हैं।

शास्त्र में मुझे कोई एकरूपता दिखाई नहीं दी।

श्रुति वाक्य है- "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणाविन्दु।"

अर्थात् यम, वरूण कुवेरादी इत्यादि वाक्यों इन्द्र, यम, वरुणों, कुबेर देवों को स्वप्नोपम बताते हैं।"

दूसरी ओर "स ऐष यज्ञाषुधि यजमानोऽज्जमा स्वर्गलोकं गच्छति।"

इस श्रुति वाक्य से प्रकट होता है यजमान के यज्ञ की सहायता से स्वर्ग गति प्राप्त होती है।

प्रस्तुत वेद वाक्य से भी देवों की सिद्धि दिखाई देती है-

अपाय सोमभद्रता अभागमनज्योतिऽविदाय देवम्। किं नून मात्मा णवदराति, किम धूर्तिरभृमृतम् धर्मस्य।[१८]

यह वेद वाक्य भी देवलोक के अस्तित्व को सिद्ध करता है। प्रभु महावीर ने समाधान करते हुए फरमाया-"हे आर्य! तुम मायोपमान् इत्यादि श्रुति वाक्य का अर्थ ठीक से नहीं जान सके। यही तुम्हारी शंका का कारण है। इस वाक्य से देवों का निषेध नहीं सिद्ध होता। देवों में अनित्यता पाई जाती है इस बात की ओर इशारा है। देव जो दीर्घायु होते हैं वह भी आखिर स्वप्न की तरह नाम शेष हो जाते हैं तो मनुष्य आदि कम आयु के पुरूषों का तो कहना ही क्या है?

मौर्यपुत्र- "देवलोक नामक एक नई दुनियां की कल्पना करने के बदले यह क्यों न मान लिया जाए कि विशिष्ट स्थिति सम्पन्न मनुष्य ही देव हैं?"

प्रभु महावीर- मनुष्य वह गति है जहां जन्म पाए प्राणी सुख-दुःख मिश्रित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्यलोक में हर व्यक्ति न तो पूर्ण सुखी और न ही पूर्ण दुःखी है। कर्म का दुःख सब भोगते हैं। शारीरिक व मानसिक दुःख अलग है। इस संसार में कोई भी अपनी इच्छाएं पूरी नहीं कर पाता। महानुभाव! मानव संसार की इस अपूर्ण सुख-सामग्री को देखकर मानना होगा कि मनुष्यलोक केवल पुण्यफल भोगने का स्थान नहीं, यहां पाप भी भोगा जाता है। इसलिए पुण्य फल भोगने का कोई दूसरा स्थान है जहां जीव दीर्घायु तक सुख भोगता है इसी स्थान का नाम देव लोक है। वहां उत्पन्न होकर हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों, खरबों वर्ष से भी अधिक समय पुण्य कर्म के फल भोगने वाले देव होते हैं।

हां, व्यवहार से उत्तम, भद्र प्रकृति के जीवों को हम देव कह सकते हैं पर उत्पत्ति से तो वही देव कहलाएंगे जो स्वर्गलोक में पैदा होकर मनुष्य से अनेक गुणा शक्ति और विलक्षण दिव्य शक्ति को धारण करने वाले होंगे।"

मौर्यपुत्र- "यदि देव है तो वे अपनी इच्छानुसार धरती पर मनुष्यलोक में क्यों नहीं आते?"

यह वह शंका थी जो आज भी संसार के नास्तिकों के प्रश्नों का आधार है। प्रभु महावीर ने इस प्रश्न का भी सहज, सरल, सुन्दर उत्तर दिया।

प्रभु महावीर- "हे आर्य! सामान्य रूप से देव इस देवलोक में इसलिए नहीं आते कि वे स्वर्ग के दिव्य पदार्थों में आसक्त रहते हैं। वहां के विषयभोगों में लिप्त रहते हैं। इन भोगों में विचरण करते हुए

उन्हें अवकाश ही नहीं प्राप्त होता कि वे धरती पर आएं।

मनुष्यलोक में इतनी दुर्गन्ध भरी है कि वह भी उनके धरती पर आने में रुकावट है। वे धरती पर बिना प्रयोजन नहीं आते। फिर भी वे कभी-कभी इस लोक में आते हैं। वे तीर्थंकरों के पंच-कल्याणकों के समय आते हैं। पूर्वभव के राग-द्वेष के कारण आते हैं। बिना प्रयोजन वे धरती पर नहीं आते।'' इस प्रकार प्रभु महावीर की बातें सुनकर मौर्यपुत्र को देवताओं के अस्तित्व पर पूर्ण विश्वास हो गया। वह भी प्रभु महावीर के समक्ष आए। दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की- ''हे देवानुप्रिय! मुझे निर्ग्रंथ प्रवचन का उपदेश दीजिए।'' प्रभु महावीर ने उनकी इच्छा पूर्ण की। वह भी प्रभु महावीर के पास अपने शिष्यों सहित प्रव्रजित हो गए।

अकम्पित के संशय व प्रव्रज्या

इसके बाद इसी यज्ञ में सम्मिलित अकम्पित नामक विद्वान अपने शिष्य परिवार सहित प्रभु महावीर के समवसरण में पहुंचा। प्रभु महावीर ने उसे देखते ही कहा-''आर्य अकम्पित! तुम्हारे मन में नरक के अस्तित्व के बारे में संशय है।''

अकम्पित- ''जी हां! यद्यपि दार्शनिक लोग 'नरक' नामक एक अगम्य स्थान की कल्पना करते हैं पर मेरी समझ में तो यह कोरी कल्पना मात्र है जिसे विद्वान लोग नरक कहते हैं। मेरे विचार से उसका तात्पर्य मनुष्य जीवन की एक निकृष्ट दशा से है।''

प्रभु महावीर- ''तुम्हारे इस प्रकार मानने से कर्म-सिद्धांत चल नहीं सकता। मनुष्य कितना भी दुःखी क्यों न हो, फिर भी उसमें सुख का अंश रहता ही है। जो जीव जीवन-पर्यन्त हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह में लीन रहते हैं, हजारों जीवों के प्राणघातक हैं। दुनियां भर की सम्पत्ति इकट्ठी करने में अपना जीवन समझते हैं। इस प्रकार के जीवन को पूर्ण कर अंत समय मृत्यु को प्राप्त करते हैं। उनके लिए क्या निकृष्ट मनुष्यगति अथवा कीट-पतंग आदि के जन्म ही काफी होंगे? ऐसे पापियों का छुटकारा मनुष्य अथवा तिर्यंचगति से नहीं हो सकता। उनके कर्मफल भोगने का कोई स्थान तो चाहिए, जहां सुख का अंश भी न हो। जहां आयु करोड़ों, अरबों वर्ष हो। इस दुःखात्मक स्थान को मैं नरक कहता हूं।''

अकम्पित- लेकिन ''न वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति।''

इस बात से सिद्ध होता है कि मरकर नरक में नारक नहीं होते फिर नरक की कल्पना बेकार है।

प्रभु महावीर- शास्त्र में नरक का प्रतिपादन भी किया गया है- ''नारको वै एष जायते यः शुद्रान्नमश्नाति''

इस वेद वाक्य में लिखा है कि शूद्र का अन्न खाने वाले को नारक होता है।

अकम्पित- ''फिर इन दोनों बातों में हम कैसे समन्वय कर सकते हैं?''

प्रभु महावीर- ''महानुभाव! इन दोनों बातों में विरोधाभास नहीं है, तुम्हारे समझने में विरोधाभास है। प्रथम शास्त्र वाक्य नरक गति से निकलने वाले जीवों को लक्ष्य करके कहा गया है कि नारक मरकर नरक में जन्म नहीं लेता। इसी भाव को आगे रखकर प्रथम वाक्य में नरक में नारकी की उत्पत्ति का निषेध है अन्य जीवों की उत्पत्ति का नहीं।''

इस प्रकार अकम्पित के नरक संबंधी प्रश्न का भगवान महावीर ने बड़ी सरलता, सहजता व सुन्दरता से उत्तर दिया। जैसे सुख के भोगने का उत्कृष्ट स्थान स्वर्ग है वैसे दुःख के भोगने का उत्कृष्ट

स्थान नरक है। पशु व मानव-जीवन के सुख-दुःख दोनों के सुख-दुःख के सामने तुच्छ है। प्रभु महावीर से समाधान पाकर अकम्पित व उसके विद्यार्थी शिष्यों ने प्रभु महावीर से निर्ग्रंथ प्रवचन सुने और फिर श्रद्धा से प्रव्रज्या स्वीकार की। अकम्पित के मुनि बन जाने के बाद उसी यज्ञ के एक और पुरोहित अचलभ्राता अपने शिष्य-परिवार के साथ प्रभु महावीर के सामने आए।

अचलभ्राता का संशय व प्रव्रज्या ग्रहण

अचलभ्राता को देखते ही प्रभु महावीर ने अचलभ्राता के मन की बात कह डाली- "हे पंडित! क्या तुम्हें पुण्य-पाप के अस्तित्व के बारे में सशंय है?"

अचलभ्राता- "जी हां! मुझे यही संशय है क्योंकि एक ओर तो हमारे शास्त्र में-

"पुरूष एवेदं कित सर्व यदू भूतं यन्न भाव्यम! उतामृत त्वस्पेशवती यदेब्नं नातिरोहति।"

इत्यादि "मुक्तिवाद" का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी ओर "पुण्यः पुण्येन पाप पापेन कर्मणा।' आदि वेद वाक्य पुण्य-पाप का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

इस विरोधाभास में कठिन हो जाता कि पुण्य-पाप कोई वास्तविक पदार्थ है या कल्पना?"

प्रभु महावीर- "हे महानुभाव! "पुरूष एवेदं" इत्यादि वेद वाक्य अर्थवाद मात्र हैं। इनमें पुरूष का महत्त्व स्थापित होता है न कि अन्य तत्वों का अभाव सिद्ध होता है।

"पुण्यः पुण्येन" इत्यादि वाक्य भी कोई औपचारिक वचन नहीं, सैद्धान्तिक वचन है। पूर्वजन्म और कर्मतत्व का अस्तित्व इसमें गर्भित है जो तर्क सम्मत और व्यावहारिक बात है। बाकी पुण्य-पाप के बारे में निम्न विकल्प पाए जाते हैं-

(१) केवल पुण्य है पाप नहीं।

(२) केवल पाप ही है पुण्य नहीं।

(३) पुण्य और पाप एक ही है भिन्न नहीं।

(४) पुण्य और पाप भिन्न भिन्न हैं।

मैं इस संदर्भ में इतना ही कहता हूं-

(१) केवल पुण्य है पाप का सर्वथा अभाव है। पुण्य की ज्यों-ज्यों अभिवृद्धि होती है वैसे-वैसे सुख की वृद्धि होती है। पुण्य की ज्यों-ज्यों हानि होती है त्यों-त्यों सुख हरता है। पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष होता है।

(२) इसी प्रकार पाप को अकेला मानने से जब पाप है दुःख में वृद्धि होती है पर जब पाप छंटता है तब पुण्य के प्रभाव से सुख अनुभव किया जा सकता है पाप का पूर्ण क्षय मोक्ष है।[९]

(३) पुण्य और पाप अलग-अलग न होकर एक साधारण वस्तु के भेद हैं। वस्तु में पुण्य की मात्रा अधिक हो तो पुण्य कहलाता है और पाप की मात्रा बढ़ने से पाप कहलाता है।

(४) पुण्य और पाप दोनों स्वतंत्र हैं। सुख का कारण पुण्य और दुःख का कारण पाप है।

(५) इस संसार में पुण्य और पाप जैसी कोई वस्तु नहीं है, समस्त भव प्रपंच स्वभाव में होता है।

ये जो पांच विकल्प संसार में पाए जाते हैं उनमें से चतुर्थ विकल्प सही है। पुण्य-पाप दोनों स्वतन्त्र हैं। सुख-दुःख का कारण हैं। स्वभाववाद आदि युक्ति से बाधित है। दुःख की प्रकृष्टता उसके अनुरूप कर्म के प्रकर्ष से प्रकट होती है जैसे सुख के प्रकृष्ट अनुभव का आधार पुण्य प्रकर्ष है वैसे ही दुःख के प्रकृष्ट